दैनिक जागरण

सकारात्मक सद्गुणों का अभ्यास ही नियम कहलाता है

नकारात्मक राजनीति

पहले लोकसभा और फिर राज्यसभा में राष्ट्रपति के अभिभाषण पर चर्चा का जवाब देते हुए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने कांग्रेस को उसके नकारात्मक रवैये के लिए जिस तरह निशाने पर लिया उससे उसकी सेहत पर कोई फर्क पड़ने की उम्मीद कम ही है, लेकिन बेहतर यही होगा कि वह अपनी रीति-नीति पर विचार करे। लोकसभा चुनाव नतीजों को लेकर कांग्रेस के नेताओं और खासकर सोनिया गांधी एवं राहुल गांधी की ओर से जैसे वक्तव्य दिए गए उससे यही लगता है कि वे जनादेश को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। इसी के चलते कभी यह कहा जा रहा है कि भाजपा नफरत फैलाकर सत्ता में आ गई और कभी यह कि सत्ता के लिए मर्यादाओं की सीमा लांघी गई। ऐसे बयानों से तो यही लगता है कि कांग्रेस चौकीदार चोर है जैसे नारे को अभी भी शालीन मान रही है। प्रधानमंत्री ने कांग्रेस को उसकी इस व्याख्या के लिए कठघरे में खड़ा करके ठीक ही किया कि आम चुनाव में भाजपा तो जीत गई, लेकिन देश हार गया। समझना कठिन है कि किन कारणों से ऐसी विचित्र व्याख्या की जा रही है? ध्यान रहे, यह वही कांग्रेस है जिसने कुछ समय पहले मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान में चुनाव जीते थे। कांग्रेस इसकी भी अनदेखी नहीं कर सकती कि लोकसभा चुनावों में केरल और तमिलनाडु में उसे उल्लेखनीय सफलता मिली है। क्या इन राज्यों में कांग्रेस और उसके सहयोगी दलों की सफलता के आधार यह कहा जा सकता है कि इन दो राज्यों में देश जीत गया? क्या कांग्रेस यह कहना चाहती है कि वह देश का पर्याय है?

यह लोकतांत्रिक नहीं, सामंती मानसिकता ही है कि जो कुछ अपने मन मुताबिक न हो उसे अमान्य करते हुए अस्वीकार कर दिया जाए। इस मानसिकता से बाहर आना कांग्रेस के अपने हित में है। अगर चुनावों में पराजित होने वाले दल जनता के विवेक के साथ ही सारी व्यवस्था को दोषी ठहराने लगेंगे तो फिर लोकतांत्रिक मूल्यों को मजबूती कैसे मिलेगी? आखिर इसका क्या मतलब कि एक बार फिर ईवीएम को संदिग्ध ठहराने की कोशिश हो रही है और वह भी बिना किसी प्रमाण के? प्रधानमंत्री ने यह सही कहा कि यह कांग्रेस का अहंकार ही है कि वह एक साथ चुनाव के विचार को बगैर चर्चा किए ठुकराना पसंद कर रही है। यह समझ आता है कि कांग्रेस अथवा अन्य किसी विपक्षी दल को मोदी सरकार की नीतियां पसंद न आ रही हों, लेकिन आखिर उसकी हर योजना और कार्यक्रम को खारिज करने-बेकार बताने का क्या मतलब? क्या यह अजीब नहीं कि कांग्रेस जिस आधार की जनक है उसके ही इस्तेमाल को बढ़ावा देने को सही नहीं मान रही है? विपक्षी दल होने के नाते कांग्रेस को सरकारी कामकाज की खामियों पर निगाह रखने और उन्हें उजागर करने का पूरा अधिकार है, लेकिन यह तो नकारात्मकता की हद ही है कि वह अपनी ही पहल को आगे बढ़ता हुआ देखना पसंद नहीं कर रही है। देश और लोकतंत्र ही नहीं, राजनीति का हित इसी में है कि ऐसे घोर नकारात्मक रवैये का परित्याग किया जाए। कम से कम संसद को तो नकारात्मक राजनीति से मुक्त रखा ही जाना चाहिए।

अधिनियम में संशोधन

उत्तराखंड सरकार ने त्रिस्तरीय पंचायत चुनाव से ठीक पहले पंचायती राज अधिनियम में महत्वपूर्ण संशोधन के लिए विधानसभा में संशोधन विधेयक पारित करा लिया। अब राज्यपाल की मंजूरी के बाद जल्द ही संशोधित अधिनियम अस्तित्व में आ जाएगा। इससे यह लगभग तय हो गया है कि उत्तराखंड में आगामी सितंबर में प्रस्तावित त्रिस्तरीय पंचायत चुनाव अब संशोधित अधिनियम के प्रावधानों के मुताबिक ही होंगे। सरकार ने पंचायती राज अधिनियम में दो महत्वपूर्ण संशोधन किए हैं। पहला और महत्वपूर्ण संशोधन अधिनियम में यह किया गया है कि त्रिस्तरीय पंचायत चुनाव में वही लोग उम्मीदवार हो सकते हैं, जिनकी दो संतान हैं। दूसरा महत्वपूर्ण संशोधन पंचायती राज अधिनियम में चुनाव लड़ने वालों के लिए शैक्षिक योग्यता का निर्धारण का किया गया है। अभी तक पंचायतों में चुनाव लड़ने के लिए किसी तरह की कोई न्यूनतम शैक्षिक योग्यता का प्रावधान नहीं था। नए प्रावधान के मुताबिक त्रिस्तरीय पंचायतों, यानी ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत व जिला पंचायत के प्रमुख व सदस्य पदों पर सामान्य श्रेणी के उम्मीदवारों के लिए शैक्षिक योग्यता हाईस्कूल व समकक्ष परीक्षा उत्तीर्ण रखी गई है। सामान्य श्रेणी की महिला और अनुसूचित जाति-जनजाति के पुरुष व महिला प्रत्याशियों के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता आठवीं पास होगी। इसके अलावा पारित विधेयक में प्रावधान है कि कोई भी पंचायत प्रतिनिधि एक साथ दो पदों पर नहीं रह सकता। अगर किसी ने सरकारी धन का गबन किया हो, उसके विरुद्ध धन की वसूली चल रही हो या उस पर सरकार का धन बकाया हो, वह चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य होगा। अधिनियम में बैलेट पेपर के साथ ही ईवीएम से चुनाव का विकल्प भी रखा है। पहले केवल बैलेट का ही प्रावधान था। दरअसल, सरकार ई पंचायत की कल्पना को साकार करने की दिशा में कार्य कर रही है। इसी के आधार पर भविष्य में पंचायतों को सक्षम और आत्मनिर्भर बनाने की योजना है। सरकार ने पंचायत अधिनियम में इसी को ध्यान में रखकर शैक्षिक योग्यता को बढ़ावा देने के मद्देनजर संशोधन किए हैं। इसके अलावा जनसंख्या नियंत्रण भी सरकार का उद्देश्य है, लिहाजा दो संतान वालों को ही चुनाव लड़ने की पात्रता तय की गई है।

गठबंधन राजनीति की कठिन डगर

प्रदीप सिंह

सपा-बसपा में टूट से यह और साफ हो गया कि एक ही प्रदेश के दो क्षेत्रीय दलों का गठजोड़ बन नहीं सकता और यदि बन भी जाए तो ज्यादा देर तक चल नहीं सकता

जिसका डर था बेदर्दी वही बात हो गई। उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी का गठबंधन लोकसभा चुनाव नतीजे के बाद टूट गया। यह टूटना ही था। गठबंधन को पूरी तौर पर तोड़ने की घोषणा बसपा सुप्रीमो मायावती ने खुद की। अखिलेश यादव अभी चुप्पी साधे हुए हैं। यह चुप्पी शालीनता की है या ठगे जाने के सदमे की, यह बाद में पता चलेगा। सिर्फ छह महीने के भीतर ही इस गठबंधन की टूट ने गठबंधन की राजनीति पर कई तरह के सवाल खड़े कर दिए हैं। बिहार, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड और हरियाणा जैसे कई राज्यों में गठबंधन कमजोर जमीन पर खड़े हैं। पहले बात उत्तर प्रदेश की करते हैं। उत्तर प्रदेश में मायावती ने एक जाल बिछाया और समाजवादी पार्टी के नेता अखिलेश यादव उसमें खुली आंखों से फंसते गए। मायावती ने अखिलेश को सपना दिखाया पूंजी को कई गुना करने का। पहला तीर उपचुनाव में छोड़ा गया और वह निशाने पर लगा। साल 2014 के लोकसभा चुनाव में खाली हाथ रहने और फिर तीन साल बाद विधानसभा चुनाव में सिर्फ 19 सीटों पर सिमटने से मायावती परेशान थीं। बसपा में भगदड़ सी मच गई थी। लोग पार्टी छोड़कर जा रहे थे, क्योंकि उन्हें बसपा में अपना भविष्य नहीं दिख रहा था। उपचुनाव में सपा का समर्थन करके मायावती ने दो लक्ष्य हासिल किए। एक, पार्टी में मची भगदड़ को रोका और दूसरा, अखिलेश यादव को बसपा की झोली में ले लिया।

मायावती का वास्तविक लक्ष्य उपचुनाव के जरिये हासिल लक्ष्यों से बड़ा था। उन्हें पता था कि अब वह दलितों की नहीं सिर्फ जाटवों की नेता रह गई हैं। यह भी पता था कि ब्राह्मण मतदाता जो 2007 में उनके साथ आया था वह अब नहीं आने वाला। दो चुनावों में उन्होंने देख लिया कि अति पिछड़ा वर्ग भी भाजपा से हटने वाला नहीं है। उन्हें एक बड़े वोट बैंक की तलाश थी और वह उन्हें मुसलमानों में दिखा। तीन बार भाजपा की मदद से मुख्यमंत्री बनने और गुजरात दंगे के बाद भाजपा के पक्ष में चुनाव प्रचार करने के कारण मुसलमान मायावती पर भरोसा करने को तैयार नहीं थे। सपा से गठबंधन के कारण मुसलमान साथ आ गए। लोकसभा में उनकी सीटें शून्य से दस हो गईं, लेकिन मायावती के लिए यह कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है। उनकी नजर 2022 के विधानसभा चुनाव पर है।

साल 2022 के चुनाव में सत्ता की दावेदारी के लिए सपा से गठबंधन तोड़ना जरूरी था। इससे पहले कि सपा हमलावर हो और मायावती को बताए कि वोट ट्रांसफर कराने का उनका तिलिस्म टूट गया है। पहला हमला करना जरूरी था, क्योंकि उन्हें बसपा को अभी प्रदेश की नंबर दो पार्टी के रूप में स्थापित करना है। मुसलमान वोट लौटकर सपा के पास न जाए। इसलिए उन्होंने अखिलेश पर हमला बोलते हुए यहां तक कह दिया कि वह अपनी पत्नी और भाई को नहीं जिता पाए। वह दरअसल मुसलमानों को बता रही थीं कि भाजपा से लड़ने में अखिलेश अक्षम हैं और यादव वोट भी पूरी तरह उनके साथ नहीं है। मायावती सत्ता से बाहर रहने पर कभी उपचुनाव नहीं लड़तीं, लेकिन इस बार विधानसभा की 12 सीटों के लिए होने वाले उपचुनाव में बसपा अपने उम्मीदवार उतारेंगी। मायावती इसके जरिये अपनी नई रणनीति का जमीनी परीक्षण करना चाहती हैं।

अवधेश राजपूत

अखिलेश यादव को सत्ता पिता मुलायम सिंह यादव से विरासत में मिली। यह उनकी अर्जित की हुई सत्ता नहीं थी। वह अभी तक 2017 की हार से उबर नहीं पाए हैं। उनको अंदाजा ही नहीं है कि सिर्फ सत्ता ही नहीं गई है। पिता और चाचा को हाशिए पर धकेलकर और आरामतलबी की राजनीति से पार्टी भी हाथ से निकल रही है। 2017 में कांग्रेस के साथ समझौता करके उन्होंने मुंह की खाई, लेकिन उससे कोई सबक नहीं सीखा। वह बसपा से गठबंधन के लिए ज्यादा व्याकुल नजर आ रहे थे। उधर मायावती चतुर शिकारी की तरह शिकार को खेलने का मौका दे रही थीं। यह साफ है कि एक ही प्रदेश के दो क्षेत्रीय दलों का गठबंधन बन नहीं सकता और यदि बन भी जाए तो ज्यादा देर तक चल नहीं सकता, क्योंकि ऐसे दोनों दलों के नेताओं की महत्वाकांक्षा क्षेत्रीय होती है। राष्ट्रीय दलों और क्षेत्रीय दलों के गठबंधन भी तभी चलते हैं जब क्षेत्रीय दल के नेता की राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा न हो और राष्ट्रीय पार्टी के राज्य के नेताओं की क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा नियंत्रण में रहे। बिहार में नीतीश कुमार और भाजपा का गठबंधन अच्छा चल रहा था। सरकार चलाने में नीतीश कुमार को भाजपा से कोई परेशानी नहीं थी, पर जैसे ही उनकी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा जगी वह अलग हो गए। राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा तो पूरी हुई नहीं और राष्ट्रीय जनता दल के साथ क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा के टकराव में जब वह कमजोर पड़ने लगे तो फिर भाजपा के खेमे में लौट आए।

किसी भी गठबंधन की कामयाबी की बुनियादी शर्त होती है उसके जनाधार में समरसता, फिर चाहे वह क्षेत्रीय दलों का गठबंधन हो या राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल का। बिहार में नीतीश कुमार और राजग का गठबंधन इसलिए कामयाब हो गया कि दोनों एक ही आंवे से निकले हुए हैं। भाजपा के साथ यह समरसता बनने में करीब दस साल (1995 से 2005) लगे। कर्नाटक में कांग्रेस और जनता दल (एस) के गठबंधन में समस्याएं हैं, क्योंकि वहां कांग्रेस राष्ट्रीय दल के बजाय क्षेत्रीय दल की तरह व्यवहार कर रही है। साथ ही दोनों दलों के जनाधार में समरसता भी नहीं है। बिहार और झारखंड में भाजपा विरोधी गठबंधन की समस्या यही है। पार्टियां अपना वोट तभी ट्रांसफर करा पाती हैं जब दोनों के जनाधार में परस्पर सौहार्द हो। इसलिए गठबंधन वही जो वोटर मन भाए। नेताओं के एक साथ आने से गठबंधन बन तो जाते हैं, लेकिन वे कामयाब नहीं हो पाते।

क्षेत्रीय राजनीतिक दलों खासतौर से उत्तर भारत के क्षेत्रीय दलों के सामने मोदी-शाह की जोड़ी ने एक नया संकट खड़ा कर दिया है। लगभग सभी क्षेत्रीय दलों की राजनीति जाति पर आधारित है। जाति से भी आगे जाकर परिवार की राजनीति मुख्य ध्येय बन गई है। दूसरी-तीसरी पीढ़ी के इन वंशवादियों को जनता अस्वीकार कर रही है, लेकिन कोई सीखने को तैयार नहीं है। छह महीने की समाजवादी पार्टी की संगत में मायावती परिवारवाद की बीमारी लेकर आईं। पार्टी के जो समर्पित कार्यकर्ता बहन जी की पालकी उठा रहे थे वे अब उनके भाई और भतीजे की पालकी उठाएंगे। उन्होंने अभी तक बताया नहीं है कि यह बाबा साहब का बताया रास्ता है या मान्यवर कांशीराम का? इन दलों के नेताओं को इस बात का अहसास ही नहीं है कि मोदी और शाह देश की राजनीति को जाति से परे ले गए हैं। विपक्षी दलों को सबका साथ, सबका विकास से मिले सबका विश्वास की राजनीति की काट खोजना पड़ेगी। पुराने ढर्रे की राजनीति से शायद राजनीतिक अस्तित्व तो बचाया जा सकता है, लेकिन इस तरह की राजनीति से भाजपा को पराजित नहीं किया जा सकता।

(लेखक राजनीतिक विश्लेषक एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

response@jagran.com

आपातकाल की वह भयानक भूल

पार्थसारथी थपलियाल

आपातकाल का स्मरण करते समय उस दौर में सुप्रीम कोर्ट की भूमिका को भी याद किया जाना चाहिए

आपातकाल को याद करते हुए हर साल जून के आखिरी सप्ताह में इंदिरा गांधी के तानाशाही भरे शासन के बारे में बहुत कुछ कहा जाता है, लेकिन इसकी चर्चा कम ही होती है कि उस दौरान न्यायपालिका और खासकर सुप्रीम कोर्ट की क्या भूमिका रही थी? इस भूमिका की चर्चा करने के पहले आपातकाल के शुरुआती दिनों का स्मरण भी आवश्यक है। उन दिनों अखबारों के अलावा आकाशवाणी एक मात्र जनसंचार माध्यम थी। 26 जून 1975 को सुबह 8 बजे रेडियो की टाइम पिप्स के साथ ही नजर और नजारा बदल गया। उन दिनों समाचारों के साथ किसी प्रकार का म्यूजिकल इफेक्ट नहीं होता था।... यह आकाशवाणी है। अब आप अमुक से समाचार सुनेंगे। राष्ट्रपति जी ने देश मे आपातकाल की घोषणा की है। इसमें घबराने की कोई बात नहीं....यह आवाज तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की थी। वह देश को बता रही थीं कि विपक्ष किस तरह उनकी सरकार को गिराने का प्रयास कर रहा है। दरअसल 12 जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय आया था, जिसमें इंदिरा गांधी की 1971 में रायबरेली लोकसभा क्षेत्र से चुनावी जीत को अमान्य कर दिया गया था। इंदिरा गांधी ने इस फैसले को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी। 24 जून 1975 को सर्वोच्च न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले को सही करार दे दिया, लेकिन इंदिरा गांधी को प्रधानमंत्री पद पर बने रहने की अनुमति दे दी।

इसी दिन बोट क्लब नई दिल्ली में कांग्रेस की बहुत बड़ी रैली इंदिरा गांधी के समर्थन में आयोजित की गई थी। दूरदर्शन पर इसकी व्यापक कवरेज न हो पाने से संजय गांधी तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री इंद्र कुमार गुजराल पर बहुत नाराज हुए। चूंकि विपक्ष ने इंदिरा गांधी के इस्तीफे को लेकर अपना आंदोलन तेज कर दिया था इसलिए सरकार खुद को मुश्किल में पा रही थी। ऐसे में पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री सिद्धार्थ शंकर रे ने इंदिरा गांधी को आपातकाल लगाने की सलाह दी। उनका कहना था कि अनुच्छेद 352 के जरिये आंतरिक आपातकाल लागू कर संकट को टाला जा सकता है। इस विचार को इंदिरा गांधी और उनके सहयोगियों ने स्वीकार कर लिया। सभी तरह के कानूनी पक्षों पर विचार करने के बाद 25 जून की रात सरकार की तरफ से अनुच्छेद 352 लगाने का निर्णय अनुमोदन के लिए तत्कालीन राष्ट्रपति के पास भेजा गया। उन्होंने आपातकाल लगाने वाले उस काले पन्ने पर बिना किसी हीला-हवाली के हस्ताक्षर कर दिए और इस तरह देश में आपातकाल लागू हो गया। 25-26 जून की रात को बहादुरशाह जफर मार्ग, जिस पर अधिकतर समाचार पत्रों के कार्यालय हैं, की बिजली काट दी गई। विपक्ष के तमाम नेताओं को मध्य रात्रि बाद उनके स्थानों से उठाया गया और जेलों में बंद कर दिया गया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर रोक लगा दी गई। नागरिकों के मौलिक अधिकार के अनुच्छेद 14, 21 और 25 को निलंबित कर दिया गया। समाचार पत्रों पर सेंसरशिप लगाकर सेंसर अधिकारी नियुक्त कर दिए। बिना उनकी अनुमति के कुछ भी नही छप सकता था। इसके विरोध में कई समाचार पत्रों के संपादकीय खाली छोड़ दिए गए। अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों पर प्रतिबंध लगा दिया। उनके सदस्यों पर अमानवीय अत्याचार ढाये गए। इन यातनाओं से विभिन्न जेलों में 63 बंदियों की जाने चली गईं।

आपातकाल थोपे जाने से लोगों का गुस्सा फूटा। इसे दबाने के लिए प्रमुख विपक्षी नेता जेलों में बंद कर दिए गए। इसी दौरान इंदिरा गांधी ने लोकसभा का कार्यकाल दो साल बढ़ा दिया। संविधान में 42वां संविधान संशोधन किया जिसमें संविधान की प्रस्तावना में पंथनिरपेक्ष और समाजवादी शब्द जोड़े गए। इस बात की व्यवस्था भी की गई कि कैबिनेट के निर्णयों को अदालत में चुनौती नही दी जा सकती। मीसा और भारत सुरक्षा अधिनियम बनाए गए जिनके तहत किसी को भी अकारण जेलों में बंद रखा जा सकता था और उसे अदालत में चुनौती भी नहीं दी जा सकती थी। इस काले दौर को रोका जा सकता था, अगर सर्वोच्च न्यायालय ने तानाशाही प्रवृत्तियों के खिलाफ खड़े होने का फैसला किया होता।

आपातकाल की घोषणा के बाद इंदिरा सरकार की तानाशाही के खिलाफ विभिन्न उच्च न्यायालयों में बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिकाएं दायर की गईं। इन याचिकाओं पर जबलपुर हाईकोर्ट समेत अन्य उच्च न्यायालयों ने कहा कि आपातकाल के बावजूद बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिकाएं दायर करने का नागरिकों को अधिकार है। इंदिरा गांधी की सरकार ने इन निर्णयों के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में अपील दायर की। इन सभी मामलों पर सुप्रीम कोर्ट ने एक साथ सुनवाई की। यह ऐतिहासिक मुकदमा एडीएम जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ल मुकदमे के नाम से चर्चित हुआ। इस मामले में सुप्रीम कोर्ट के पांच न्यायाधीशों की पीठ में से चार जजों, चीफ जस्टिस एएन रे, एमएच बेग, वाईवी चंद्रचूड़ और पीएन भगवती ने बहुमत से यह फैसला सुनाया कि सरकार किसी भी नागरिक के मौलिक अधिकारों का हनन कर सकती है। यह एक तरह से आपातकाल को सही ठहराने वाला फैसला था। उक्त पीठ के सदस्य जस्टिस एचआर खन्ना ने अपने साथियों के फैसले से असहमति जताई थी। इस असहमति के कारण उन्हें इंदिरा सरकार की नाराजगी का सामना करना पड़ा। जनवरी 1977 में जब जस्टिस एएन रे रिटायर हुए तो जस्टिस एचआर खन्ना वरिष्ठता क्रम में सबसे ऊपर थे, लेकिन सरकार ने उनकी वरिष्ठता की अनदेखी कर उनसे जूनियर एचएम बेग को मुख्य न्यायाधीश बनाया। सरकार ने उन न्यायाधीशों को भी किसी न किसी तरह प्रताड़ित किया जिन्होंने आपातकाल के खिलाफ फैसले दिए थे।

कहते हैं कि इंदिरा गांधी ने जनवरी 1977 में एक खुफिया सर्वे करवाया। उससे उन्हें भरोसा हो गया कि चुनावों में उन्हें तीन सौ से अधिक सीटें मिल सकती हैं। इसलिए 18 जनवरी 1977 को इंदिरा गांधी ने लोकसभा भंग कर आम चुनाव की घोषणा कर दी। सभी राजनीतिक बंदियों को जेलों से रिहा कर दिया गया। तब लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में विपक्ष एकजुट हुआ और चुनाव में कांग्रेस बुरी तरह पराजित हुई। नए राजनीतिक दल जनता पार्टी का गठन हुआ मार्च 1977 में संपन्न लोकसभा चुनावों में जीत के बाद जनता पार्टी ने मोरारजी देसाई को प्रधानमंत्री चुना। 21 मार्च 1977 को आपातकाल हटाया गया। आपातकाल का स्मरण जरूरी है, लेकिन ऐसा करते समय यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि तत्कालीन सुप्रीम कोर्ट अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरा। उसने जो भूल की उसकी देश को भारी कीमत चुकानी पड़ी।

(लेखक आकाशवाणी में सीनियर रेडियो ब्राडकास्टर रहे हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

आशा

जीवन की राह में सबसे महत्वपूर्ण है आशान्वित रहना। इसके अभाव में नकारात्मकता हावी हो जाती है। मनुष्य जैसी आशा करता है, वैसा ही बन जाता है। आशा के अनुरूप ही चाह होती है। चाह होते ही सोच, विचार, कार्य सब उसी दिशा में बदल जाते हैं और मनुष्य उसी के अनुरूप बनता चला जाता है। जब हम निराशा में उलझ जाते हैं तब अंधेरा ही अंधेरा दिखाई पड़ता है, परंतु जब हम आशा का विचार करते हैं तो चहुंओर प्रकाश ही नजर आता है। आशा में एक जीवंतता है, एक गति है, एक प्रवाह है, एक लक्ष्य है, एक मंजिल है। ऐसे में हमें कभी आशा की डोर नहीं छोड़नी चाहिए। आशा का ही एक पक्ष है सकारात्मक दृष्टि, किंतु सभी ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपना पाते या कहें कि अपनाना नहीं चाहते। अगर चाहें तो क्या नहीं हो सकता? स्वभाव संक्रामक होता है। हम अक्सर अपने जैसे स्वभाव वालों से प्रभावित हो जाते हैं। यदि सामने वाले के विचार ज्यादा असरदार हों तो वे हमें प्रभावित कर लेते हैं, अन्यथा हमारे विचार उसे प्रभावित कर लेते हैं। नकारात्मक विचारों वाला व्यक्ति कभी-कभी अपने विचारों की पैरवी ज्यादा अच्छी तरह कर लेता है और हम उसके प्रभाव में आ जाते हैं। ऐसे में हमें चाहिए कि हम आशा का दामन न छोड़ें।

आदर्श मनुष्य वही है जो संकट के समय धैर्य और साहस से काम लें। पराक्रम और पुरुषार्थ की बात सोचे, विश्वास बनाए रखें, निराश न हो। कठिनाइयों से लड़ने की लालसा, अपनी शक्तियों पर भरोसा और कुछ कर गुजरने की इच्छा उसी व्यक्ति में होती है जो आशावान होता है। आशा और आत्मविश्वास जो संबल, सहारा और सद्भावना प्रदान करते हैं वह और किसी प्रकार के विचारों से नहीं मिल सकती। कठिनाइयां तो हमारी प्रेरणा बनती हैं। कठिनाइयां न होतीं तो क्या कभी इतनी उन्नति की जा सकती थी। जीवन गुलाब के फूलों का विस्तार नहीं है, किंतु मुश्किलों भरे काम में कब किसे आनंद आता है? क्या कभी यह नहीं लगता कि यह कार्य करने में ज्यादा आनंद आता है जो चुनौती भरा होता है? अगर जीवन में कठिनाइयों न हों, उलझाव न हों, दुश्वारियां न हों तो क्या हम निष्क्रिय नहीं हो जाएंगे? आशा ही इन चुनौतियों से निपटने में सबसे बड़ा संबल होती है।

ललित गर्ग

आज की जरूरत हैं मोटे अनाज

रवि शंकर

मोटे अनाज अब हमारी थाली से गायब होते जा रहे हैं जबकि ये इंसानी सेहत और पर्यावरण दोनों के लिहाज से अच्छे होते हैं

एक वक्त हमारी कृषि-उत्पादन प्रणाली में खासी विविधता देखने को मिलती थी। गेहूं, चावल, जौ, राई, सरसों, तिल, मक्का, मडुआ, ज्वार, बाजरा आदि फसलें उगाई जाती थी। मगर समय के साथ मोटे अनाजों का रकबा घटता गया। बदली कृषि-नीति ने भारतीयों को गेहूं और चावल जैसी फसलों पर निर्भर बना दिया। वहीं बाजार के बढ़ते प्रभाव से मोटे अनाज, दलहन और तिलहन से मोहभंग होता गया। हरित क्रांति के दौर में जिस एक फसली खेती को बढ़ावा मिला उसमें धान और गेहूं जैसी फसलों को केंद्रीय भूमिका प्रदान की गई। परिणामस्वरूप कुल कृषि भूमि में से मोटे अनाजों की पैदावार घटती गई। किसान भी गेहूं व धान का रकबा बढ़ाते गए, क्योंकि इनका समर्थन मूल्य पर बिकना तय है। समर्थन मूल्य हर साल बढ़ता है। राज्य सरकारें इस पर अतिरिक्त बोनस की घोषणा भी करती हैं।

ज्वार, कोदो और बाजरा जैसे प्रोटीन का मुख्य स्रोत माने जाने वाले मोटे अनाज अब दुर्लभ हो गए हैं। मोटे अनाज अब हमारी थाली से गायब हो गए हैं जबकि इनकी खेती न केवल खुराक, बल्कि पर्यावरण के लिहाज से भी सही है। बीते 50 वर्षों के दौरान देश में मोटे अनाजों का रकबा 60 प्रतिशत तक घटा है। हम तिलहन और दलहन का आयात करते हैं। तिलहन के मामले में हम हरित क्रांति के समय तक लगभग आत्मनिर्भर थे, लेकिन अब वह भी आयात करते हैं। अगर मलेशिया से पाम ऑयल, अमेरिका और ब्राजील से सोया ऑयल नहीं आए तो मुसीबत आ जाए।

एक तरफ तो इन आसान फसलों ने जैविक विविधता को खत्म किया है। दूसरी तरफ इनसे जल-संकट बढ़ने का खतरा पैदा हो गया है, क्योंकि इन फसलों में दलहन, तिलहन और मोटे अनाज की तुलना में कई गुना अधिक पानी लगता है। इस पानी की पूर्ति भी धरती से की जाती है जिसका सीधा असर भूजल स्तर पर पड़ा है। इससे पानी की किल्लत बढ़ रही है। पानी के साथ इन फसलों में यूरिया की खपत भी लगातार बढ़ती जा रही है जिससे जमीन की उपजाऊ भू-पर्पटी में कड़ापन आ रहा है। मोटे अनाजों को फिर से खेती की मुख्यधारा में लाने के लिए कुछ प्रयास किए जाने बेहद आवश्यक हो गए हैं।

इसके लिए मोटे अनाजों के गुणों को प्रचारित करना होगा। इन अनाजों के लिए लाभकारी समर्थन-मूल्य घोषित करने के साथ ही इनकी सरकारी खरीद, भंडारण और विपणन के लिए प्रभावी नेटवर्क बनाए जाने की आवश्यकता है। साथ ही गेहूं और धान की भांति मोटे अनाजों के शोध, अनुसंधान एवं विकास की सुविधाएं देश भर में स्थापित की जानी चाहिए। बैंकों, वित्तीय संस्थाओं आदि को मोटे अनाजों की खेती के लिए रियायती दर पर कर्ज की सुविधा देने के लिए प्रावधान किया जाना चाहिए। इन उपायों से न केवल रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का आयात व प्रयोग कम होगा, बल्कि मिट्टी, भू-जल के साथ-साथ मनुष्य का स्वास्थ्य भी सुधरेगा। इस प्रकार बदलते मौसम चक्र, एक फसली खेती से हो रहे नुकसान आदि को देखते हुए मोटे अनाजों की खेती भविष्य में उम्मीद की किरण के समान है। इससे खाद्य-सुरक्षा के साथ-साथ उचित पोषण और स्वास्थ्य-सुरक्षा भी सुनिश्चित हो सकेगी।

(लेखक स्वतंत्र टिप्पणीकार हैं)

मेलबाक्स

संसद के संसाधनों की किसे परवाह?

'संसद में संसाधनों की बर्बादी' शीर्षक से लिखे अपने लेख में राजीव सचान ने यह बताने की कोशिश की है कि अगर राज्यसभा में भी मोदी सरकार का शत-प्रतिशत अधिकार हो जाए तो लोकसभा से पारित सभी विधेयक बिना किसी विघ्न-बाधा के पास हो सकते हैं। यह सही है, क्योंकि हमारी राजनीति का स्तर इतना गिर गया है कि विपक्ष कभी भी सरकार के अच्छे फैसलों पर साथ नहीं देगा। ऐसे में यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि कोई संसद के संसाधनों की बर्बादी की चिंता करे, लेकिन एक चिंता यह भी है कि राज्यसभा में भी मोदी सरकार का बहुमत हो गया तो सरकार स्वेच्छाचारी भी हो सकती है। पीआरएस लेजिस्लेटिव रिसर्च की रिपोर्ट में यह बात सामने आई थी कि लोकसभा की पहली कार्यवाही में वर्ष 1952 में लोकसभा की लगभग 677 बैठकें हुई थीं, जिसमें हो-हल्ला नहीं, बल्कि देशहित और जनहित के बारे सोचा गया था, लेकिन आज संसद का नजारा ही बदल चुका है। आज संसद में बेवजह का हो-हल्ला अधिक और काम कम होता है। पता नहीं विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र में वह सुबह कब आएगी, जब सभी दलों के सांसद संसद में आमजन और देशहित के लिए मिल-जुलकर फैसले लेंगे या फिर सरकार की नीतियों या फैसलों की कमियों को शांतिपूर्वक तरीके से दूर करने की कोशिश करेंगे? सांसदों को इस बारे में भी विचार करना चाहिए और समय का सदुपयोग होना चाहिए।

राजेश कुमार चौहान, जालंधर

सोच-समझ कर हो क्रियान्वयन

एक देश, एक चुनाव इस वक्त राष्ट्रीय राजनीति का सबसे चर्चित मुद्दा बना हुआ है। जहां कुछ लोग इसके पूर्णतः पक्ष में हैं, वहीं कुछ इसका विरोध करते नजर आ रहे हैं। कुछ लोगों की राय है कि एक देश, एक चुनाव की नीति में संशोधन होना चाहिए। दरअसल यह नीति लोकसभा व विधानसभा के चुनाव अलग-अलग वक्त पर न कराकर एक ही समय में करवाने के लिए है। इस नीति के जहां कुछ फायदे हैं, वहीं कुछ खामियां भी हैं। यदि एक ही वक्त पर दोनों सदनों के चुनाव कराए जाते हैं तो इससे समय व संसाधनों की बचत होगी। योजनाओं को लागू करने में सहूलियत होगी, लेकिन इसके नकारात्मक पहलू को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इस नीति से क्षेत्रीय पार्टियों व मुद्दों के अस्तित्व पर संकट आ सकता है। चुनाव के परिणामों में विलंब हो सकता है। संविधान की मूल भावना को भी ठेस पहुंच सकती है। इसलिए जरूरी है कि इसे लागू करने से पहले इसमें कुछ संशोधन किए जाएं ताकि इस नीति का देश को पूरी तरह फायदा मिल सके।

उपासना, दिल्ली विश्वविद्यालय

आत्ममंथन की जरूरत

भीड़ द्वारा हिंसा का नया उदाहरण है झारखंड में एक युवक की मौत। गौर करने वाली बात यह है कि इस बार मसला न तो गाय के संहार से संबंधित था न गाय के व्यापार से, फिर भी इस निंदनीय दुर्घटना के पीछे सांप्रदायिक दृष्टिकोण साफ झलकता है। भीड़ अल्पसंख्यक समुदाय के एक व्यक्ति जिस पर लोगों को चोरी का शक था, को एक धर्म विशेष के नारे लगाने पर मजबूर करती है। ऐसा न करने पर स्वयं ही न्यायपालिका बन मृत्युदंड देने का मन बनाती है। प्रशासन ने भी आग में घी डालने का काम किया। ऐसी घटनाएं हमें यह सोचने पर विवश कर रही हैं कि भाईचारा और धर्मनिरपेक्षता अब मात्र एक शब्द बन कर ही रह गए हैं। यह देश के लिए बेहद चिंताजनक है।

सौरभ शर्मा, नई दिल्ली

दोषियों पर हो सख्त कार्रवाई

झारखंड में उन्मादी भीड़ द्वारा युवक की पिटाई और उसके उपरांत हुई उसकी मृत्यु तो निंदनीय है ही, उससे भी निंदनीय है उससे जबरदस्ती श्रीराम का नाम बोलने को बाध्य करना। लाठी-डंडे के बल पर किसी को कुछ बोलने के लिए मजबूर करना कतई सही नहीं कहा